दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक ग्यारहवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

माघ
२४८०

मुक्ति का उपाय

हे भव्य जीव! तू अपनी बुद्धि शुद्ध आत्मा में लगा। उस शुद्धात्मस्वभाव की भावना कर-करके ही भूतकाल के मुमुक्षु जीव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, भविष्य में मुक्त होनेवाले जीव इसी रीति से मुक्त होंगे और वर्तमान में भी महाविदेह आदि क्षेत्रों में भव्य जीव इसी रीति से मुक्त हो रहे हैं!

[—नियमसार-प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०७

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

—: विहार वर्तमान :—

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी धर्मप्रभावना के अनेक मंगलकार्यों के निमित्त से सौराष्ट्र में विहार कर रहे हैं! माघ कृष्णा ३ के दिन सोनगढ़ से विहार करके उमराला पधारे थे; वहाँ तीन दिन रुककर लीमडी और दामनगर होते हुए माघ कृष्णा ७ के दिन लाठी पधारे हैं। वहाँ से चलकर माघ कृष्णा १२ रविवार को राजकोट पहुँचेंगे। उसके बाद गोंडल, वडिया, जैनपुर आदि स्थलों पर होते हुए करीब माघ शुक्ला १० तक जूनागढ़ गिरनार तीर्थ की यात्रा को पधारेंगे और वहाँ से पोरबन्दर जायेंगे। पोरबन्दर में पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव है, जिसका शुभ मुहूर्त फाल्गुन शुक्ला ३ को होगा। परमपूज्य गुरुदेव सुखशांति में विहार कर रहे हैं और उनके पवित्र वचनामृत द्वारा सौराष्ट्र में धर्मदृष्टि हो रही है।

आत्मधर्म

माघ : २४८० ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक ग्यारहवाँ

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की

कुछ शक्तियाँ

[१२]

प्रकाशशक्ति

[गतांक से आगे]

आत्मा की अनंत शक्तियों में एक प्रकाश नाम की शक्ति है। कैसी है वह शक्ति ? स्वयं प्रकाशमान विशद (स्पष्ट) ऐसी स्वसंवेदनमयी अर्थात् स्वानुभवस्वरूप प्रकाशशक्ति है।

ज्ञानमूर्ति आत्मा का स्वसंवेदन कैसा है ? कि स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट है, प्रत्यक्ष है। आत्मा स्वयं अपने से ही प्रत्यक्ष स्वानुभव में आये, ऐसी उसकी प्रकाशशक्ति है। आत्मा में अनादि-अनंत ऐसा प्रकाशस्वभाव है कि स्वयं अपने से प्रकाशमान है और स्वयं ही अपना स्पष्ट संवेदन करता है। आत्मा को अपना स्वसंवेदन करने में किसी पर के आश्रय की आवश्यकता नहीं होती। इन्द्रियादि निमित्तों का संयोग हो तो आत्मा को अपना संवेदन हो—ऐसा नहीं है; और आत्मा स्वयं अपने को प्रत्यक्ष न कर सके, परोक्षरूप से ही आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान हो—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि प्रकाशशक्ति के कारण आत्मा का स्वभाव स्वयं प्रकाशमान स्पष्ट स्वसंवेदनरूप है। इन्द्रियों के आश्रय से जो व्यवहार श्रद्धा-ज्ञान करता है, वह आत्मा की एक समयपर्यंत की योग्यता है परन्तु आत्मा का त्रिकाली स्वभाव वैसा नहीं है। किसी संयोग से या राग से अनुभव में आये,

ऐसा आत्मस्वभाव नहीं है और मात्र परोक्षज्ञान से अनुभव में आये, ऐसा भी आत्मा नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो स्वयं अपने से अनुभव में आये और प्रत्यक्ष अनुभव में आये ऐसा है। यदि निमित्त के अवलम्बन से आत्मा के स्वानुभव का प्रकाश होता हो तो आत्मा में स्वयंसिद्ध प्रकाशशक्ति नहीं रहती। श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव इत्यादि सब का स्वयं आत्मवस्तु में ही समावेश होता है; अपने श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव के लिए आत्मा को किसी पराश्रय की आवश्यकता नहीं है। पर से आत्मा को लाभ हो अथवा आत्मा पर को लाभ दे—ऐसी शक्ति आत्मा में नहीं है।

आत्मा में जीवत्व, श्रद्धा, ज्ञान, सुख, प्रभुत्वादि अनंत गुण हैं; वे सब स्वयं प्रकाशमान हैं; किसी पर निमित्त के कारण प्रकाशित हों, ऐसा आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों का स्वभाव नहीं है; स्वयं अपने से ही स्पष्टतया अपने ज्ञान-आनंद-शान्ति आदि का स्वसंवेदन करे—ऐसा आत्मा का त्रिकाल स्वभाव है। ज्ञानादि में परोक्षता रहे, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। यदि आत्मा की ऐसी शक्ति को न माने और एकान्त परोक्ष ही माने तो उसने आत्मा को जाना ही नहीं है।

श्री वीतरागी प्रतिमा, शास्त्र, इन्द्रियादि निमित्तों के कारण अथवा उस ओर के शुभविकल्प के कारण मेरा ज्ञान प्रकाशित होता है—ऐसा जो माने, उसने आत्मा की स्वयंसिद्ध स्पष्ट-स्वानुभवरूप प्रकाशशक्ति को नहीं माना है, इसलिए उस शक्तिवाले आत्मा को भी उसने नहीं माना हे। यदि ज्ञान एक समयपर्यंत के राग और निमित्तों के लक्ष से जानने में ही रुक जाए परन्तु स्वसन्मुख होकर आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव न करे तो आत्मा का हित नहीं होता; क्योंकि पराश्रितरूप से कार्य करे, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा तो स्वयं प्रकाशमान स्वभाववाला है। आत्मा को अपने आश्रय से निर्मलता प्रगट हो—ऐसा उसका स्वभाव है; परन्तु अपनी निर्मलदशा प्रगट करने के लिये किसी निमित्त का अथवा पर का अवलम्बन करना पड़े, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है।

देखो, यह चैतन्य की महिमा! अपने में ऐसी अनंतशक्तियाँ भरी हैं, उन्हीं से आत्मा की महिमा है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी इत्यादि बाह्य वस्तुओं से आत्मा की महिमा नहीं है। जिसप्रकार कन्या को ससुराल भेजते समय दहेज देते हैं, उसीप्रकार जिन्हें मोक्ष में जाना हो, उन्हें आचार्यदेव आत्मा का दहेज बतलाते हैं। देख भाई! तेरे आत्मा में तेरी अनंतशक्तियाँ भरी हैं; उसकी महिमा को तू पहिचान तो उसके अवलम्बन से अल्पकाल में तेरी सिद्धदशा प्रगट हो जायेगी। जिसप्रकार आत्मवस्तु को किसी ने बनाया नहीं है परन्तु उसकी सत्ता स्वयंसिद्ध है, उसीप्रकार उसके ज्ञानादि

अनंत गुण भी स्वयं प्रकाशमान हैं। क्या इन्द्रियाँ हैं, इसलिये आत्मा है ? क्या मन है, इसलिये आत्मा है ? क्या पुण्य-पाप हैं, इसलिये आत्मा टिका है ? नहीं; इन्द्रियाँ, मन, पुण्य-पाप के कारण आत्मा नहीं टिका है, परन्तु आत्मा तो स्वयंसिद्ध अनादि-अनेत तत्त्व है; उसकी ज्ञानादि अनंत शक्तियाँ भी स्वयंसिद्ध अनादि-अनंत प्रकाशमान हैं और उसकी प्रति समय की अवस्था भी अपने से ही स्वयं होती है। देखो, यह आत्मा की प्रकाशशक्ति की महिमा ! आत्मा की ऐसी महिमा को जाने तो अपूर्व कल्याण प्रगट हो !

अपने से पृथक-बाह्य पदार्थ हैं, उनमें एकमेक हुए बिना उन्हें स्पष्ट प्रकाशित करने का आत्मा का स्वभाव है। उन बाह्य पदार्थों के कारण कहीं आत्मा उन्हें प्रकाशित नहीं करता परन्तु स्वत: अपने प्रकाशस्वभाव से ही वह प्रकाशित करता है। पर को जानने के लिये बाह्य का अवलम्बन लेना पड़े, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा त्रिकाल है, वह स्वयं सत् है, किसी के द्वारा उसका निर्माण नहीं हुआ है। आत्मा के ज्ञानादि अनंतगुणों में भी स्वयं प्रकाशित होने का स्वभाव है। पर्याय में पर के अवलम्बन के कारण एक समयपर्यंत का जो विकार होता है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, उस पर धर्मी की दृष्टि नहीं है, और उसके आश्रय से आत्मा को धर्म नहीं होता। यदि ज्ञान अपने आत्मा का आश्रय छोड़कर राग के या पर के आश्रय से ही कार्य करे तो वहाँ अधर्म होता है। पर से तो आत्मा पृथक है और अपने एक अंश में विकार है; उसमें अहंबुद्धि छोड़कर त्रिकाली ध्रुव सामर्थ्य से परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करने की शक्ति आत्मा में अनादि-अनंत है, और वह श्रद्धा-ज्ञान आत्मा के अपने ही अवलम्बन से होता है, इसलिये वह स्वयं प्रकाशमान हैं; ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करने से ही जीव को धर्म होता है। इसके अतिरिक्त पर के अवलम्बन से जो श्रद्धा-ज्ञान हो, उससे जीव को कुछ भी लाभ नहीं होता। राग या निमित्तादि पर का अवलम्बन करने से आत्मा को कुछ भी लाभ हो—ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है, और पर में भी ऐसा कोई गुण नहीं है कि उसका अवलम्बन करने से वह आत्मा को कुछ लाभ दे। पराश्रय के किसी भी भाव से आत्मा को लाभ होता है—ऐसी मान्यता, वह मिथ्याबुद्धि है। जो पराश्रय से लाभ होना मानता है, वह पर का अवलम्बन छोड़कर आत्मा का अवलम्बन कहाँ से करेगा ? पराश्रय से लाभ माननेवाले को आत्मा की महिमा नहीं है परन्तु पर की महिमा है; इसलिये वह जीव मिथ्यादृष्टि-अधर्मी है।

अनेक जीव निमित्त के कारण आत्मा को लाभ-हानि होना मान रहे हैं; वे निमित्ताधीन

दृष्टिवाले जीव तो स्थूल मिथ्यादृष्टि है। निमित्त अर्थात् परद्रव्य; वह आत्मा को कुछ भी लाभ-हानि नहीं कर सकता। कुदेव-गुरु-शास्त्र तो धर्म के निमित्त भी नहीं हैं, और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र भी अपने से परद्रव्य हैं; उनके आधार से आत्मा का ज्ञान नहीं होता, परन्तु आत्मा के स्वयं के आधार से ही ज्ञान होता है—ऐसे स्वाश्रय की प्रतीति में मुक्ति का परम पुरुषार्थ है। आत्मा अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध है और उसकी तीनोंकाल की अवस्थाएँ भी स्वयंसिद्ध हैं; उसकी कोई भी अवस्था क्या पर के कारण हो सकती है ? अपनी अवस्था पर के कारण होती है—ऐसा जो मानता है, वह जीव स्वसन्मुख पुरुषार्थ से रहित है, इसलिये परमार्थतः वह नपुंसक है; उसमें स्वभाव का पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य नहीं है; इसलिये वह पुरुष नहीं है; विपरीत दृष्टि के फल में परम्परा से वह निगोद का नपुंसक हो जायेगा। स्वयं प्रकाशमान ऐसे आत्मस्वभाव की दृष्टि का फल सिद्धदशा है और निमित्ताधीन दृष्टि का फल निगोददशा है।

कैसा है आत्मा का प्रकाशस्वभाव ? एक तो स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमय है। स्वयं प्रकाशमान है, इसलिये आत्मा अपने स्वरूप के सन्मुख रहकर स्वयं प्रकाशित होता है; इसलिये उसमें प्रत्यक्षपना ही आया। परलक्ष से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है, वह वास्तव में स्वयं प्रकाशमान स्वभाव नहीं है। परलक्ष से जो परोक्ष ज्ञान होता है, उससे सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान या चारित्र नहीं होता है। पर का लक्ष छोड़कर और परलक्ष से होनेवाले रागादि को हेय करके अर्थात् ज्ञान को अन्तर्मुख करके त्रिकाली आत्मस्वभावसन्मुख होना ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र का उपाय है। आत्मा के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति किए बिना भी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान या चारित्र नहीं होते।

आत्मा का स्वरूप स्वयं अपने से प्रगट हो—ऐसा है। परिपूर्ण आत्मा स्वयं अपने स्वसंवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव में आता है—ऐसा उसका स्वभाव है; परोक्षपना रहे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर के लक्ष से आत्मा को लाभ होगा—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, उसे आत्मा के स्वभाव की खबर नहीं है। निमित्त के अवलम्बन से जो परोक्षज्ञान होता है, वह आत्मा का त्रिकाल स्वभाव नहीं है; वह एक समय की पर्याय की योग्यता है परन्तु वह हेय है; स्वयं प्रकाशमान ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञानपिण्ड ही उपादेय है। परोक्षज्ञान से लाभ हो, ऐसा कोई गुण आत्मा में नहीं है परन्तु प्रत्यक्ष स्वसंवेदनरूप ऐसे अपने आत्मस्वभाव के आश्रय से पूर्ण लाभ प्राप्त कर सके—ऐसी शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।

आत्मा में प्रकाशशक्ति है, वह प्रकाशशक्ति कहीं पुस्तक में या भाषा में नहीं भरी है परन्तु

आत्मा के ज्ञान में विद्यमान है; इसलिये आत्मा स्वयं प्रकाशित होता है। पहले मंगलाचरण में भी आचार्यदेव ने कहा था कि—''नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते'' स्वयं अपनी ही अनुभूति से प्रकाशमान—ऐसे शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो! निमित्त-व्यवहार अथवा परोक्षज्ञान के अवलम्बन बिना ही चिदानन्दमूर्ति भगवान आत्मा स्वयं अपने स्वभाव से ही प्रकाशमान है। वास्तव में ऐसे आत्मस्वभाव में कोई निमित्त-राग-व्यवहार या परोक्षज्ञान है ही नहीं, इसलिये उस निमित्त-राग-व्यवहार या परोक्षज्ञान का अभाव करने की बात भी नहीं रहती; स्वयं प्रकाशशक्तिवाले शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेने से अन्य सबका अवलम्बन छूट जाता है। निमित्त के लक्ष से जो ज्ञान तथा राग होता है, वह पराश्रित व्यवहार है, उसके कारण आत्मा के किसी गुण का विकास हो—ऐसा नहीं है; और उस पराश्रित व्यवहार का ग्रहण या त्याग करे, ऐसा कोई गुण भी आत्मा में नहीं है, क्योंकि स्वभाव में तो उसका अभाव है ही; और स्वभाव से प्रकाशमान ऐसे आत्मा का अवलम्बन लेने से पर्याय में से भी उस पराश्रित ज्ञान तथा राग का अभाव सहज ही हो जाता है; अर्थात् स्वाश्रित पर्याय में उस पराश्रितभाव की उत्पत्ति ही नहीं होती। व्यवहार के आश्रय से आत्मा को लाभ हो, ऐसा तो नहीं होता, और व्यवहार के लक्ष से व्यवहार का अभाव करना चाहे तो वह भी नहीं हो सकता। ''यह व्यवहार है और इसका अभाव करूँ''—ऐसे विकल्प से व्यवहार का अभाव नहीं होता परन्तु राग की उत्पत्ति होती है। शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा स्वयं प्रकाशशक्ति का परिणमन प्रगट होने से पराश्रयरूप व्यवहार का अभाव हो जाता है। जिसप्रकार जहाँ सूर्य-प्रकाश का विस्तार हो, वहाँ अंधकार रहता ही नहीं; उसीप्रकार स्पष्ट स्वानुभव द्वारा जहाँ आत्मा की स्वयं प्रकाशमान शक्ति विस्तृत हो, वहाँ पराश्रयभावरूप व्यवहार, राग अथवा परोक्षज्ञान नहीं रहते; स्वयं अपने से अपना प्रत्यक्ष स्वसंवेदन करे, ऐसा आत्मा का प्रकाशक स्वभाव है और उसमें परोक्षपने का अभाव है। ज्यों-ज्यों आत्मा का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों परोक्षपना छूटता जाता है। देव-गुरु के अवलम्बन से, शास्त्र के अवलम्बन से, इन्द्रियादि निमित्त के अवलम्बन से अथवा मन के विकल्प से ज्ञान करने का आत्मा का स्वभाव नहीं है, तथा परोक्षज्ञान भी आत्मा का स्वभाव नहीं है परन्तु स्वयं अपने स्वभाव से ही प्रत्यक्ष स्वानुभव करे—ऐसी प्रकाशशक्ति आत्मा में सदैव है। यद्यपि साधक के अभी पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है और परोक्षज्ञान भी प्रवर्तमान है, परन्तु उसे आत्मा के स्वभाव का अंशतः प्रत्यक्ष

स्वसंवेदन हो गया है। यदि अंशतः भी प्रत्यक्ष संवेदन न हुआ हो और सर्वथा परोक्ष ही ज्ञान हो तो वह जीव अज्ञानी है; और यदि सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदन प्रगट हो गया हो तथा किंचित् भी परोक्षपना न हो—तो वह जीव केवलज्ञानी होता है। साधकजीव की प्रतीति में तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय आत्मा आ गया है और पर्याय में अंशतः स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रगट हुआ है तथा अंशतः परोक्षपना भी है; परन्तु साधक की प्रतीति का बल स्वयं प्रकाशमान, परिपूर्ण, प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय स्वभाव पर होने से उसकी दृष्टि में परोक्षपना गौण हैं; स्वभाव के आश्रय से वह अपनी पूर्णता की साधना करता है।

यथार्थरूप से आत्मा की एक भी शक्ति को समझे तो शक्तिमान ऐसा पूर्ण आत्मा और समस्त जैनशासन समझ में आ जाता है। समस्त जैनशासन का सार शुद्ध आत्मा है, इसलिये जो शुद्ध आत्मा को समझा, उसने समस्त जैनशासन जान लिया। पर्याय में तो व्यवहार, परोक्षपना और निमित्तादि हैं, तब तो उनका निषेध किया जाता है। पर्याय में व्यवहार, परोक्षपना और निमित्त का अवलम्बन अनादि से चले आ रहे हैं परन्तु उनके अवलम्बन से काम नहीं होता। इसलिये यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तेरी पूर्ण शक्ति तुझमें ही भरी है, उसे तू संभाल और उसका अवलम्बन कर! अनादिकाल से अपनी स्वभावशक्ति को भूलकर निमित्त के अवलम्बन से ज्ञान करता आया है, तथापि अपनी स्वयंप्रकाशशक्ति का अभाव नहीं हुआ। अपने स्वसंवेदनप्रत्यक्ष आत्मा को एकबार तो स्वीकार कर!—किसप्रकार? कि इन्द्रियों और मन से पार होकर स्वयं प्रकाशमान ऐसे आत्मा के प्रत्यक्ष स्वानुभवपूर्वक एकबार स्वीकार कर, तो तेरे भवभ्रमण का नाश हो जाये।

आत्मा में प्रकाशशक्ति है, वह स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट स्वसंवेदनमय है, इसलिये उसमें पर के अवलम्बन का और परोक्षपने का अभाव है। परोक्षज्ञान होने का आत्मा का स्वभाव नहीं है; आत्मा का स्वभाव तो प्रत्यक्ष-स्पष्ट ज्ञान करने का है। ऐसे ज्ञानस्वभाव की प्रतीति और अनुभव करे, उसने आत्मा की प्रकाशशक्ति को यथार्थरूप से जाना कहा जाता है।

देखो, यह आत्मा का प्रकाश! इसके अतिरिक्त अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि 'आत्मा के ध्यान में हमें प्रकाश का पुंज दिखाई देता है।'—वह तो उनकी भ्रमणा है। अभी आत्मा कैसा है-उसकी भी खबर नहीं है तो उसका ध्यान कहाँ से होगा? आत्मा में कहीं मूर्तिक प्रकाश नहीं है

परन्तु अतीन्द्रिय चैतन्यप्रकाश है। वास्तव में ज्ञानप्रकाशी आत्मा ही सबका प्रकाशक है। यदि आत्मा का ज्ञानप्रकाश न हो तो सूर्यादि के प्रकाश को जानेगा कौन? सूर्य का प्रकाश स्वयं अपने को नहीं जानता, उसे जाननेवाला तो ज्ञान है; और वह ज्ञान स्वयं प्रकाशमान है; वह स्वयं अपने को प्रत्यक्ष जानता है। यह प्रत्यक्ष स्वसंवेदनमय प्रकाशशक्ति आत्मा के समस्त गुणों में व्याप्त है, वह पृथक् नहीं रहती; इसलिये उस एक शक्ति की प्रतीति करते हुए अनंत गुणों का पिण्ड पूर्ण आत्मा ही दृष्टि में आ जाता है। अखण्ड आत्मा को दृष्टि में किये बिना उसकी एक-एक शक्ति की यथार्थ प्रतीति नहीं होती। इस सम्बन्ध में पाँच बोल पहले कहे जा चुके हैं; उन्हें यहाँ भी लागू करना।

(अपूर्ण)

व्यवहार में विमूढ़दृष्टिवाला जीव—

भूसी कूटता है!

[श्री समयसार कलश २४२ और उसका प्रवचन]

व्यवहारविमूढ़दृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतिह तुष न तंडुलम्॥२४२॥

व्यवहार में ही जिनकी दृष्टि (बुद्धि) मोहित है—ऐसे पुरुष परमार्थ को नहीं जानते;—जिसप्रकार जगत में तुष के ज्ञान में ही जिनकी बुद्धि मोहित है—ऐसे पुरुष तुष को ही जानते हैं, तंदुलों को नहीं जानते।

जो भूसे में मुग्ध हो रहे हैं, भूसे को ही कूटते रहते हैं, उन्होंने तंदुलों को जाना ही नहीं; उसी प्रकार जो द्रव्यलिंग आदि व्यवहार में मुग्ध हो रहे हैं, उन्होंने शुद्धात्मानुभवरूप परमार्थ को जाना ही नहीं है।

व्यवहार तो भूसे जैसा है, मूल परमार्थ वस्तु निश्चय है; जो परमार्थवस्तु को नहीं जानते

और दया, व्रतादि शुभव्यवहार में ही जिनका आत्मा अर्पित हो गया है, वे पुरुष अनाज को छोड़कर भूसे को ही कूटते हैं। ज्ञानी तो अंतर में आत्मा के परमार्थस्वरूप को जानते हैं; जो व्रतादि का राग आये, उसे वे मोक्षमार्ग नहीं मानते; और अज्ञानी तो भूतार्थस्वभाव के भान बिना व्रतादि के राग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें मोहित होता है।

एक स्त्री धान कूट रही थी, उसमें चावल नीचे उतरते थे और भूसा ऊपर दिखाई देता था। एक दूसरी मूर्ख स्त्री ने यह देखा और 'यह स्त्री भूसा कूट रही है!'—ऐसा विचार कर वह भी भूसा कूटने लगी। लेकिन कहीं भूसे में से कण निकल सकते हैं? उसी प्रकार ज्ञानियों ने तो अंतर में परमार्थस्वरूप के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप सुन्दर मोक्षमार्ग प्रगट किया है, वह तो अंतर में है, और महाव्रतादि के शुभपरिणाम तथा दिगम्बर शरीर वह बाह्य के भूसे जैसे हैं। वहाँ जो अंतरंगदृष्टि से ज्ञात होने योग्य भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ यथार्थ मोक्षमार्ग है, उसे जो अज्ञानी पहिचानते नहीं हैं और मात्र बाह्यदृष्टि से व्रतादि के राग को तथा द्रव्यलिंग को ही देखते हैं; इसलिये उसी को मोक्षमार्ग मानकर उसी में मोहित होकर रुक जाते हैं।

और व्यवहारविमूढ़ का दूसरा दृष्टांत इस प्रकार है:—एकबार सर्दी के मौसम में जंगल के कुछ लोगों ने घास इकट्ठा किया; उसमें अग्नि की चिन्गारी रखकर उसे सुलगाया और तापने बैठे। पास में ही कुछ बन्दर यह देख रहे थे। बन्दरों को भी ठंड लग रही थी; इसलिये उन्होंने विचार किया कि चलो हम भी तापने का बन्दोबस्त करें। उन्होंने घास तो इकट्ठा कर लिया; लेकिन अग्नि कहाँ से सुलगाएँ? मनुष्यों ने अग्नि कहाँ से प्रगट की थी, उसका तो भान नहीं था, इसलिए एक चमकते हुए जुगनू को पकड़कर घास में रखा; लेकिन जुगनू से कहीं घास सुलग सकता था!? देखो, बन्दरों ने मात्र बाह्य नकल की, लेकिन उससे उनका कुछ भी नहीं हुआ। उसी प्रकार ज्ञानी तो अंतर में चैतन्यस्वभाव के आश्रय से भेदज्ञानरूपी ज्योति प्रगट करके मोक्षमार्ग की साधना करते हैं; वहाँ बाह्य में उन्हें पुण्यपरिणाम और द्रव्यलिंग भी होता है। अज्ञानी लोग अंतरंग स्वभाव को तो जानते नहीं हैं और बन्दर की भाँति ज्ञानियों के रागादि को ही मोक्ष का कारण मानकर उनकी नकल करते हैं, परन्तु उससे कहीं उनकी सिद्धि नहीं होती। जिस भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ज्ञानी मोक्षमार्ग की साधना करते हैं, उसे तो वे जानते नहीं हैं, इसलिये मोक्ष के सच्चे कारण को छोड़कर वे अज्ञानी मात्र भूसे को ही कूटते हैं। मूल वस्तु को जाने बिना मात्र व्यवहार को-राग को मोक्षमार्ग मानना, वह अनाजरहित अकेले भूसे को कूटने के समान व्यर्थ है।

जो अनाज को तो जानते नहीं हैं और अकेले भूसे में ही मुग्ध होकर भूसे को कूटते रहते हैं, उन्हें अनाज की प्राप्ति नहीं हो सकती; उसीप्रकार शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप परमार्थ-मोक्षमार्ग को तो जो जानते नहीं हैं और द्रव्यलिंगादि व्यवहार में ही मुग्ध हो रहे हैं, उन्हें मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती।

ऐसे व्यवहारमूढ़ जीवों के लिये दोहापाहुड़ में कहते हैं कि:—

पंडिय पंडिय पंडिय कण छोडि वि तुस कंडिया।
पय अत्थं तुट्ठोसि परमत्थ ण जाणइ मूढोसि।

हे पांडे! हे पांडे! हे पांडे! तूने कणों को छोड़कर मात्र भूसे को ही कूटा है; तू शब्द और अर्थ में ही संतुष्ट है, परन्तु परमार्थ नहीं जानता इसलिये मूर्ख है।

[श्री समयसार गाथा ४१३ का निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी प्रवचन आगे दिया जायेगा।]

शुद्धात्मा का अनुभव कैसे होता है ?

शुद्धात्मा की अनुभूति के लिये तरसता हुआ शिष्य प्रश्न करता है
—और—
श्रीगुरु उसे शुद्धात्मा के अनुभव की रीति समझाते हैं

शुद्धनय से आत्मा का स्वरूप कैसा है, वह आचार्यदेव बतलाते हैं:—

अबद्धस्पृष्ट, अनन्य ने जे नियत देखे आत्मने,
अविशेष, अणसंयुक्त, तेने शुद्धनय तुं जाणजे॥१४॥

यह गाथा शुद्धनय से आत्मा का स्वरूप बतलानेवाली है। शुद्धनय से ऐसे आत्मा को देखना, वह सम्यग्दर्शन है। ''जो पस्सदि अप्पाणं...'' अर्थात् ''जो ऐसे आत्मा को देखता है, उसे हे शिष्य! तू शुद्धनय जान''—ऐसा कहा, यानी ऐसे शुद्धात्मा को देखने की अनुभवन करने की उत्कंठा जिसके अन्तर में जागृत हुई है, ऐसे शिष्य के लिये यह शुद्धनय का उपदेश है। और ''...तं सुद्धणयं वियाणीहि''—ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव, शिष्य को शुद्धनय जानने के लिये कहते हैं; तो सामने सुननेवाले शिष्य में भी शुद्धनय को जानने की पात्रता है—ऐसा उसमें सूचित होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य! तू ऐसे शुद्धनय को जान!—तो सामने वैसा जाननेवाला शिष्य न हो ऐसा नहीं हो सकता।

''शुद्धनय'' का अर्थ क्या?

बंधरहित तथा पर के स्पर्शरहित, अन्यत्वरहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित, अन्य के संयोगरहित—ऐसे पाँच भावरूप शुद्ध आत्मा को जो ज्ञान देखता है, उसे शुद्धनय जानना।

देखो, यहाँ आचार्यदेव शुद्ध आत्मा को जानने के लिये कहते हैं : हे शिष्य! शुद्धनय द्वारा तू अपने शुद्ध आत्मा को जान। शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब तूने अनादिकाल से जाना है परन्तु शुद्ध आत्मा का स्वरूप कभी नहीं जाना; इसीलिये यह संसार-परिभ्रमण दूर नहीं हुआ। ''मैं क्रोधी, मैं मनुष्य, मैं पर के सम्बन्धवाला हूँ''—ऐसा जीव अनादिकाल से मान रहा है; परन्तु ''मैं क्रोधरहित, देहरहित, पर के संबंधरहित शुद्ध ज्ञायकमूर्ति आत्मा हूँ''—ऐसा शुद्धनय से कभी नहीं जाना। इसलिये आचार्यदेव वह जानने का उपदेश देते हैं। जो शिष्य ऐसा शुद्धनय का उपदेश सुनने के लिये जिज्ञासापूर्वक खड़ा है, वह भी यही जानना चाहता है कि प्रभो! अनादिकाल से मैं अपने आत्मा को अशुद्ध और संयोगवाला ही मानकर अभी तक संसार में भटका हूँ, मैंने शुद्धनय से कभी अपने आत्मा को नहीं पहिचाना; अब मैं शुद्धनयानुसार अपने आत्मा का स्वरूप जानना चाहता हूँ—कि जिसे जानने से सम्यग्दर्शन प्रगट होकर मेरी मुक्ति हो। इसप्रकार अपने शुद्ध आत्मा को जानने की ही शिष्य को प्रधानता है, अन्य अप्रयोजनभूत विषय जानने की प्रधानता नहीं है। ज्ञान का विकास होने से अन्य अप्रयोजनभूत बातें ज्ञात हों तो उसका अभिमान नहीं है और ज्ञात न हों तो उसका खेद नहीं है; शुद्ध आत्मा को ही जानने की उत्कंठा और उत्साह है।

आत्मज्ञानी संत को ढूँढ़कर जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि—''प्रभो! शुद्ध आत्मा की अनुभूति कैसे हो?'' श्रीगुरु उसे उत्तर देते हैं कि आत्मा के भूतार्थस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से

शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। देखो, जो शिष्य जिज्ञासु होकर पूछता है, उससे श्रीगुरु कहते हैं कि तू ऐसे आत्मा को जान! परन्तु जिसे जिज्ञासा नहीं है, उसे बलात् नहीं सुनाना चाहते। तत्त्वार्थसूत्र में ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः''—ऐसा प्रथम सूत्र है; उसकी टीका में प्रश्न किया है कि यह सूत्र किसके लिये प्रवर्तित हुआ है ? उसके उत्तर में कहते हैं कि जिस शिष्य की अल्पकाल में मुक्ति होना है और जिसे वर्तमान में मोक्षमार्ग के श्रवण की लालसा है—ऐसे शिष्य के लिये यह सूत्र प्रवर्तमान हुआ है। उसीप्रकार यहाँ प्रश्नकार शिष्य को अल्पकाल में भवभ्रमण से कैसे छुटकारा हो, उसकी लालसा जागृत हुई है, और इसीलिये वह शुद्धात्मा का स्वरूप जानने के लिये प्रश्न करता है। शुद्ध आत्मा का अनुभव कैसे होता है—उसे सुनने की शिष्य को अभिलाषा है;—ऐसे शिष्य से श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य! जो नय आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त जानता है, उसे तू शुद्धनय जान। इसप्रकार ऐसी उत्कंठावाले पात्र शिष्य के लिये ही यह सूत्र निमित्त है; इसलिये उपादान-निमित्त की संधि है। जिसे मोक्षमार्ग समझने की जिज्ञासा नहीं है, और न सुनने में उत्साह है—ऐसे ठूँठ जैसे जीव को ज्ञानी, मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं सुनाते। जिन्हें आत्मा की दरकार नहीं है और भवभ्रमण का भय नहीं है—ऐसे जीवों की यहाँ बात नहीं है। भले गृहस्थाश्रम में हो, परन्तु जिसका आत्मा अंतर से लालयित होकर पूछता है कि शुद्ध आत्मा कैसा है ?—उसकी अनुभूति कैसे होती है ?—इसप्रकार जो शुद्ध आत्मा के अनुभव की रीति जानकर वैसा अनुभव करने के लिये पात्र हुआ है, उस शिष्य को ही आचार्यदेव समझाते हैं। गुरु कैसे होते हैं और शिष्य की पात्रता कैसी होती है—यह सब बात इसमें आ जाती है। पात्र शिष्य स्वयं श्रीगुरु के निकट जाकर विनयपूर्वक पूछता है।

यह शास्त्रकर्ता तो मुनि हैं, आत्मा के अनुभव की धुन में मस्त रहनेवाले वनवासी महान दिगम्बर संत हैं, मुनि तो जंगल में पर्वत की गुफाओं में वास करते हैं, बस्ती में तो कभी-कभी आते हैं। पात्र शिष्य हो, वह स्वयं गुरु की शोध में जाता है। आत्मा के अनुभव के लिये तरसता हुआ शिष्य घर-बार और व्यापार-धंधे की प्रवृत्ति छोड़कर मुनिमहाराज की शोध में निकल पड़ता है। 'वर्ते अंतरशोध' अंतर में आत्मा की शोध में वर्तता हुआ शिष्य निमित्तरूप से संत को ढूँढ़ता है। मैं घर कब लौटूँगा और व्यापार या भोजनादि कब करूँगा—ऐसी सांसारिक चिंता को छोड़कर जंगल में मुनि को ढूँढ़कर उनके निकट आत्मा समझने का कामी है—ऐसा शिष्य, ज्ञानी संत मिलने से उनसे उत्कंठापूर्वक पूछता है कि हे नाथ! शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे होती है ? ऐसे पात्र शिष्य को

श्रीगुरु समझाते हैं कि हे भाई! आत्मा के भूतार्थस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। कर्म का सम्बन्ध और अशुद्धता तो अभूतार्थ है; आत्मा के भूतार्थस्वभाव में वह नहीं है; इसलिये भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से अर्थात् शुद्धनय से कर्म के संबंधरहित और अशुद्धतारहित आत्मा की अनुभूति होती है। ऐसा समझनेवाला शिष्य कैसा है?—कि मेरे व्यापारादि में हानि हो रही है, इसलिये मुझे जल्दी घर जाना चाहिए—ऐसा उसके मन में नहीं है; उससे तो वह उदासीन है और आत्मा को समझने के लिये उसका अंतर तरस रहा है; ऐसे सुपात्र शिष्य को आचार्यदेव ने इस सूत्र द्वारा शुद्ध आत्मा को समझाया है।

इस काल ऐसे वीतरागी दिगम्बर संत मुनिराज के दर्शन तो अत्यंत दुर्लभ हो गये हैं; परन्तु आत्मज्ञानी संतों का मिलना भी दुर्लभ हो गया है। जो जिज्ञासु जीव हो, वह ज्ञानी गुरु को ढूँढ़कर—पहिचानकर उनके पास जाकर विनय से पूछता है। श्रीगुरु ने आत्मा का स्वरूप जिसप्रकार कहा है, तदनुसार झेलकर ज्ञान में धारण कर रखा है और पश्चात् उसका अनुभव करने के लिये आतुरता से पूछता है कि प्रभो! आपने जैसा कहा, वैसे आत्मा की अनुभूति कैसे होती है? वह अपने मन में ऐसा संदेह नहीं करता कि ''अरे रे! मुझे शुद्धात्मा का अनुभव नहीं हो सकेगा।'' परन्तु ''मुझे ऐसे आत्मा का अनुभव करना चाहिए, वही मुझे करने योग्य है''—इसप्रकार उल्लसित और उद्यमी होकर उसकी रीति पूछता है। अनुभव नहीं हो सकेगा—ऐसा नहीं मानता, परन्तु अनुभव करने के लिये पूछता है कि प्रभो! जैसा आपने कहा है, वैसे शुद्धात्मा की अनुभूति कैसे होती है, वह बतलाइये! पर्याय में शुद्ध आत्मा के आनंद का वेदन कैसे हो, उसके लिये शिष्य अंतर से पुकार कर रहा है। उसे श्री आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भव्य! पर्याय में जो यह बंधन और अशुद्धतारूप भाव दिखलाई देते हैं, वे अभूतार्थ हैं; इसलिये आत्मा के भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने से उस बंधन और अशुद्धभावों रहित ऐसे शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। कर्म का सम्बन्ध और विकारी भाव, आत्मा की क्षणिक पर्याय में हैं अवश्य, परन्तु वह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, इसलिये त्रिकालीस्वरूप की दृष्टि से अनुभव करने से अबंधस्वभावी एकरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।—ऐसा अनुभव करना, वह अपूर्व धर्म और मोक्षमार्ग है।

''श्रीगुरु ऐसा आत्मा कहना चाहते हैं और यही मुझे आदरणीय है''—इसप्रकार श्रीगुरु कथित आत्मा का निर्णय करके उसके अनुभव के लिये लालयित शिष्य को अंतर से प्रश्न उठा है कि प्रभो! आपने कहा वैसे शुद्ध आत्मा का अनुभव मुझे कैसे होगा? स्वयं जिनसे प्रश्न करता है,

उन श्रीगुरु ने वैसे शुद्धात्मा का अनुभव किया है—ऐसा भी उसमें आ गया। क्योंकि जिसने स्वयं शुद्धात्मा का अनुभव न किया हो, वह दूसरों को अनुभव का उपाय कहाँ से बतला सकता है? जिन्होंने स्वयं शुद्धात्मा का अनुभव किया है—ऐसे गुरु, जिज्ञासु शिश्य को उसकी रीत समझाते हैं कि—बद्धस्पृष्ट आदि जो अशुद्धभाव हैं, वे मात्र क्षणिक पर्याय जितने हैं, अभूतार्थ हैं; तेरे त्रिकाली भूतार्थस्वभाव में वे भाव नहीं हैं; इसलिये हे शिष्य! शुद्धनय के अवलम्बन द्वारा भूतार्थस्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से हमने कहा वैसे आत्मा का अनुभव हो सकता है। पर्याय के आश्रय से वह अनुभव नहीं होता परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के आश्रय से वह अनुभव होता है। तुझे आत्मा में जो बंधन और अशुद्धपना दिखाई देता है, वह मात्र पर्यायदृष्टि से है। शुद्धस्वभाव की दृष्टि से देखने पर तो आत्मा उनसे रहित एकाकार शुद्ध है; इसलिये उस स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से अबद्धस्पृष्ट-अनन्य-नियत-अविशेष और असंयुक्त ऐसे भगवान आत्मा का अनुभव होता है।

शुद्धनय से आत्मा कैसा है, उसका यहाँ पाँच विशेषणों से वर्णन किया है:—

(१) अबद्धस्पृष्ट—आत्मा बंधन और पर के स्पर्श रहित है; जिसप्रकार पानी के संयोग के ओर की अवस्था से देखने पर कमल-पत्र पानी से स्पर्शित दिखाई देता है, परन्तु कमल के स्वभाव को देखें तो उसे पानी का स्पर्श हुआ ही नहीं है; उसीप्रकार कर्म के संयोग के ओर की अवस्था से अनुभव करने पर आत्मा, कर्म से बंधा हुआ और कर्म से स्पर्शित दिखलाई देता है; परन्तु आत्मा के मूलस्वभाव का अनुभव करने से वह बंधनरहित है और पुद्गल के स्पर्श से रहित है; इसप्रकार आत्मा अबद्धस्पृष्ट है।

(२) अनन्य—आत्मा अनन्य अर्थात् एकरूप है। जिसप्रकार घड़ा, ढक्कन इत्यादि अवस्थाओं से देखने पर मिट्टी अनेक पृथक्-पृथक् आकाररूप दिखाई देती है, परन्तु मिट्टी के स्वभाव को देखने से उसमें ऐसे भेद नहीं हैं; मिट्टी तो एकरूप मिट्टी ही है; उसीप्रकार मनुष्य, देव इत्यादि पर्यायों से देखने पर आत्मा अनेक आकारोंरूप से दिखाई देता है, परन्तु मूलस्वभाव से देखने पर आत्मा एकरूप चैतन्य आकारमय है; पर्याय के पृथक्-पृथक् आकार उसके स्वभाव में नहीं हैं; इसप्रकार आत्मा अनन्य है।

(३) नियत—आत्मा नित्यस्थिर स्वभाववाला है; जिसप्रकार ऊपरी लहरों को देखने से समुद्र वृद्धि-हानिरूप दिखाई देता है, परन्तु समुद्र के स्वभाव को देखें तो वह पानी के दल से भरपूर

नित्यस्थिर है; उसीप्रकार आत्मा की पर्याय में ज्ञानादि पर्यायों की वृद्धि-हानिरूप अनियतपना दिखाई देता है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा वृद्धिहानि से रहित नित्य स्वरूप स्थिर है, इसप्रकार आत्मा नियत है।

(४) अविशेष—आत्मा गुण के भेदों से रहित अभेद है, जिसप्रकार पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणों से लक्ष में लेने पर सुवर्ण में विशेष भेद दिखाई देते हैं; परन्तु सामान्य सुवर्ण को ही लक्ष में लेने से उसमें वैसे भेद ज्ञात नहीं होते; उसीप्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों के भेद से देखने पर आत्मा विशेष भेदरूप दिखाई देता है; परन्तु अनंतगुणों से अभेदरूप सामान्य-स्वभाव का अनुभव करने से उसमें भेद का विकल्प नहीं रहता; इसप्रकार आत्मा अविशेष है।

(५) असंयुक्त—आत्मा का स्वभाव राग-द्वेष-मोह से संयुक्त नहीं है परन्तु उससे असंयुक्त मात्र ज्ञानस्वरूप है; जिसप्रकार अग्नि के संयोग के निमित्त से पानी की अवस्था में उष्णता है, परन्तु पानी के शीतलस्वभाव में उष्णता नहीं है; उसीप्रकार आत्मा की अवस्था में मोह के साथ संयुक्तपना दिखलाई देता है, परन्तु आत्मा का स्वभाव एकान्त बोधबीजरूप है; उसमें मोह से संयुक्तपना नहीं है, इसलिये आत्मा असंयुक्त है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि से पर्याय में भी असंयुक्तपना-मोहरहित शुद्धपना प्रगट होता है।

इसप्रकार पाँच बोलों से आत्मा की पहिचान कराई है। ऐसे आत्मा को अंतर में देखना-अनुभवन करना, वह शुद्धनय है। ऐसे आत्मा के अनुभव की रीति एक ही है कि "स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करना"—इसके अतिरिक्त अन्य कोई उसका साधन नहीं है। उपयोग को अनादि से इस ओर (बाह्य में) लगाता है, उसके बदले इस ओर (अंतर में) लगाना ही अनुभव की रीति है। अनादि से शुद्ध आत्मा को भूलकर, 'विकार वह मैं हूँ और संयोग मैं हूँ'—ऐसा मानकर उस विकार की तथा संयोग की निकटता की है और इसी से अशुद्धता का अनुभव किया है; उसके बदले अब उनसे दूर होकर अंतरस्वभाव के निकट जाकर उसका अनुभव कर, तो आत्मा शुद्धरूप से अनुभव में आये। बाह्य में अपनत्व माना, उस मोह से संसार बना है; अंतरमुख होकर आत्मा का अवलोकन करने से मोह का नाश होकर मुक्ति प्रगट होती है।

❀❀ ❀❀ ❀❀

शुद्धनय किसे कहते हैं, वह यहाँ आचार्यदेव ने बतलाया है; अर्थात् शुद्धनय कैसे आत्मा का अनुभव करता है, उसका वर्णन किया है। शुद्धनय से देखने पर चैतन्यस्वभाव में पर का संयोग

है ही नहीं; जड़कर्मों ने कभी उसको स्पर्श ही नहीं किया है। आत्मा त्रिकाली पदार्थ है; वह क्षणिक विकार जितना या संयोग जितना नहीं है। अज्ञानी जीव अपने त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि चूककर वर्तमान संयोग और विकार जितना ही अपने को मानते हैं। आत्मा त्रिकाली सत् पदार्थ है, उसे पर संयोग से और संयोगी भावों से पहिचानने से उसका सच्चा स्वरूप ज्ञात नहीं होता। आत्मा की क्षणिक पर्याय में कर्म के संयोग से अनेक आकार, विकार और प्रकार होते हैं; उनसे आत्मा की पहिचान करने से—अर्थात् यह आत्मा है—ऐसा मानने से—आत्मा की पर्याय में हीनता और दुःख होता है। पर के सम्बन्ध से अपनी पहिचान कराने में तो लोगों में भी हीनता मानी जाती है; श्वसुर के सम्बन्ध से दामाद की पहिचान कराई जाये तो वहाँ दामाद की हीनता मानी जाती है। उसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा को उसके मूलस्वरूप से न पहिचानकर, परसंग से और विकार से पहिचानना, वह कलंक है। आत्मा को कर्म के संयोगवाला और कर्म के संयोग से होनेवाले क्षणिक विकारवाला ही मानकर अशुद्ध अनुभवन करना, वह अज्ञान है—कलंक है—लज्जा है। त्रिकाली आत्मस्वभाव को परसंग से रहित शुद्ध एकरूप पहिचानकर उसका अनुभव करना यथार्थ है; उसमें आत्मा की शोभा है। इसलिये यहाँ शुद्धनय से आत्मा का अनुभव करने का उपदेश करते हैं।

आत्मा पर के संग से रहित त्रिकाल अपने एक चैतन्यप्राण से ही जीता है; उसके बदले आत्मा दस जड़ चैतन्य प्राणों से जीता है—ऐसा मानना, वह लज्जास्पद है; उसमें चैतन्य की यथार्थ महिमा प्रतीति में नहीं आती; आत्मा के स्वतंत्र चैतन्य जीवन की पहिचान नहीं आती। जो जीव ऐसे शुद्ध स्वभाव की दृष्टि करना चाहता है, उसे व्यवहार से पर्याय में विकार और कर्म का संयोग है—ऐसा तो जाना है; क्योंकि पर्याय में विकार और कर्म का सम्बन्ध है, उसे यदि न माने तो "उससे रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव कैसे हो?"—ऐसा प्रश्न उठने का अवकाश नहीं रहता, और व्यवहार का निषेध करके परमार्थ स्वभाव की दृष्टि करना उसे नहीं रहता। जो व्यवहार को बिल्कुल जानता ही न हो, वह अज्ञानी है; और व्यवहार का निषेध करके परमार्थ स्वभाव का अनुभव न करे तो उसके भी अज्ञान दूर नहीं होता। पर्याय में व्यवहार है, उसे जानने पर भी गौण करके—अभूतार्थ करके, शुद्धनय द्वारा आत्मा के भूतार्थ स्वभाव का अनुभव करे, उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है।

इस मूल सूत्र में तो भगवान आचार्यदेव ने शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का ही वर्णन किया है; और टीका में आचार्यदेव ने अस्ति-नास्ति से निश्चय-व्यवहार दोनों पक्ष बतलाये हैं; तथा उनमें

स्वाश्रय द्वारा व्यवहार का निषेध करके आत्मा के परमार्थस्वभाव का अनुभव करना, वह शुद्धनय है—ऐसा बतलाया है।

भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति है; वह स्वभाव से कर्म के संयोगरहित है; कर्म से वह बँधा हुआ नहीं है और कर्म को उसने स्पर्श भी नहीं किया है। शुद्धनय से समस्त आत्माओं का स्वभाव ऐसा ही है; ऐसे आत्मस्वभाव की स्वीकृति करना, वह प्रथम अपूर्व धर्म है।

आत्मवस्तु की पर्याय में बाल, युवा, छोटा, बड़ा, पशु, मनुष्य इत्यादि जो अनेक आकार होते हैं, वे एकरूप असंख्य प्रदेशी चैतन्य के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा में नहीं हैं; आत्मा तो सदैव एक चैतन्य आकारवाला है; पशु-मनुष्य आदि पृथक्-पृथक् पर्याय के भेद उसमें नहीं हैं। असंख्यप्रदेशी चैतन्य पिण्ड त्रिकाल एकरूप है, वह परमार्थ से पृथक्-पृथक् अनेकाकाररूप नहीं हो जाता। जिसप्रकार लोटा, तपेली इत्यादि बर्तनों के संयोग से देखने पर पानी भिन्न-भिन्न अनेक आकृतिरूप ज्ञात होता है, परन्तु पानी के स्वभाव को देखने से वे भिन्न-भिन्न आकार उसका सच्चा स्थायी स्वरूप नहीं है, पानी तो एकरूप पानी ही है; उसीप्रकार शरीर के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों की अवस्था में भिन्न-भिन्न अनेक आकार ज्ञात होते हैं परन्तु वह उसका स्थायी स्वरूप नहीं है; असंख्य प्रदेशी आत्मा नित्यस्थायी एकरूप है। शुद्धनय से ऐसे एकरूप आत्मा का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है।

पर्याय की हीनाधिकता के अनेक प्रकार हैं, वे क्षणिक हैं; उनकी दृष्टि से आत्मा का एकरूप नित्यस्थायी स्वरूप ज्ञात नहीं होता। आत्मा नित्य एकरूप ज्ञानस्वरूप से रहता है; नियत एक स्वरूप से स्थिर है। पर्याय के भेदों को गौण करके ऐसे परमार्थ स्वभाव को दृष्टि में लेने से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है।

पुनश्च, शुद्धनय के विषयरूप आत्मा अविशेष है अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणभेदों से रहित एकरूप अभेद वस्तु है। गुणों का भेद करके देखने से परमार्थ आत्मा अनुभव में नहीं आता। गुणभेद के लक्ष से भी विकल्प होता है; उस गुणभेद के विकल्प में रुकने से शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं होता। शुद्धनय तो भेद के विकल्प से रहित है; शुद्धनय से आत्मा का अनुभव करे, तब उसमें विकल्प नहीं होता; इसलिये गुणभेद का विकल्प करे, तभी आत्मा को माना कहा जाता है—ऐसा नहीं है; परन्तु गुणभेद के विकल्प से भी पृथक् होकर एकाकार आत्मस्वभाव का शुद्धनय से स्वीकार करे, उसने आत्मा को जाना है। शुद्धनय से ऐसे आत्मा की दृष्टि प्रगट होने के पश्चात्

भेद का विकल्प उठे, वह मात्र अस्थिरता का विकल्प है; उस समय भी धर्मी की दृष्टि में तो अभेद स्वभाव का ही स्वीकार है।

द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से भेदरहित एकाकार शुद्ध आत्मस्वभाव है, वह पर के सम्पर्क से रहित है; वास्तव में राग-द्वेष-मोह भी आत्मा के शुद्धनय से पर है; इसलिये आत्मा उनसे भी असंयुक्त है। स्वभाव से तो आत्मा त्रिकाल राग-द्वेष-मोह रहित है ही, और जहाँ उस स्वभाव को लक्ष में लेकर पर्याय ने उस स्वभाव की समीपता की, वहाँ पर्याय राग-द्वेष-मोह से दूर हुई इसलिये उस पर्याय में भी असंयुक्तपना प्रगट हुआ है। ''मैं राग-द्वेष-मोह संयुक्त नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ''—इसप्रकार शुद्धनय से अपने स्वभाव को पकड़कर उसका अनुभव किया, वहाँ पर्याय पर के साथ संयुक्त नहीं हुई, परन्तु स्वभाव के साथ संयुक्त हुई, इसलिये आत्मा असंयुक्त हुआ। अपनी पर्याय को परसंग से हटाकर, ज्ञायकस्वभाव की ओर उन्मुख करके जो पर्याय में राग-द्वेष-मोह से असंयुक्तपना प्रगट करे, उसी ने वास्तव में असंयुक्त आत्मस्वभाव को जाना है। इसप्रकार पर्याय में परिणमन सहित की यह बात है। जो जीव शुद्धनय से आत्मस्वभाव का स्वीकार करे, उसके पर्याय में भी शुद्धता का परिणमन हुए बिना नहीं रहेगा।

जिज्ञासु शिष्य ने ऐसा पूछा है कि, प्रभो! निश्चय से अबद्धस्पृष्ट अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे आत्मा की अनुभूति, वह शुद्धनय है—ऐसा आपने कहा; तो ऐसे आत्मा की अनुभूति किसप्रकार होती है?—ऐसा पूछनेवाले शिष्य को आचार्यदेव यह बात समझाते हैं। जो शिष्य यह बात सुनने आया है, उसे अभी अनुभव नहीं हुआ है परन्तु वह शुद्धात्मा के अनुभव का कामी है; जगत के आदर-मान अथवा विषय-कषाय का कामी नहीं है; राग का और व्यवहार का कामी नहीं है, परन्तु अंतर में आत्मा का अनुभव होकर भव-भ्रमण कैसे दूर हो?—उसी का कामी है। वह व्यवहार को तो जानता है, राग से और पराश्रय से धर्म मनानेवाले ऐसे कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र की श्रद्धा छूटकर उसे सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा हुई है और अब शुद्धनय कैसा है, वह जानना चाहता है। ऐसे पात्र शिष्य को संबोध कर 'तं सुद्धणयं वियाणीहि'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने शुद्धनय को जानने का आदेश दिया है। शुद्धनय का उपदेश सुननेवाले शिष्य की तैयारी या पात्रता कैसी होती है, वह भी इसमें आ जाता है। ऐसी तैयारीवाले शिष्य को शुद्धनय का उपदेश परिणमित हो जाता है और अंतर में उसे शुद्धात्मा का अनुभव होता है।

जहाँ शुद्धनय से अभेद आत्मा को जानकर उसका अनुभव किया, वहाँ सम्यग्ज्ञान की

अपूर्व कला प्रगट होकर आत्मा के साथ एकमेक हो गई और मोह दूर हो गया। उस समय आत्मा साक्षात् असंयुक्त हुआ। पर्याय में असंयुक्तपना प्रगट हुए बिना असंयुक्त आत्मा को माना नहीं कहा जाता; क्योंकि असंयुक्त आत्मस्वभाव को स्वीकार करनेवाली तो पर्याय है; वह पर्याय यदि स्वयं मोह से पृथक् होकर असंयुक्त न हो तो त्रिकाली मोहरहित ऐसे असंयुक्त आत्मा को उसने किसप्रकार स्वीकार किया? जो जीव आत्मा को कर्म के संगवाला या भेद के विकल्पवाला अशुद्ध ही अनुभव करता है, उसे हम आत्मा नहीं कहते परन्तु पुण्य कहते हैं; उस जीव के अनुभव में आत्मा नहीं आया किन्तु पुण्य के विकल्प को ही आत्मा मानकर उसका अनुभवन करता है। पुण्य के क्षणिक विकल्प को ही आत्मा मानकर जो उसका अनुभव करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। शुद्धनय से आत्मा का परमार्थ स्वरूप जाने बिना वह मिथ्यादृष्टिपना दूर होकर धर्म नहीं होता। निश्चय से आत्मा पर के सम्बन्धरहित, विकाररहित और भेदरहित एकाकार ज्ञायकमूर्ति है; जो पर्याय अंतर में ऐसे आत्मा को जानकर उसमें अभेद हो, वह शुद्धनय है और वही आत्मा है; शुद्धनय और आत्मा भिन्न नहीं है। शुद्धनय से आत्मा की अनुभूति प्रगट हुई, वह आत्मा के साथ अभेद है; इसलिये वह आत्मा ही है।

वर्तमान कर्म के संयोग से देखने पर आत्मा की पर्याय में अपने ही अपराध से बंधन और अशुद्धता है अवश्य; परन्तु वह आत्मा का स्थायी स्वरूप नहीं है; इसलिये उसके लक्ष से आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अनुभूति नहीं होती। निश्चय से आत्मा का नित्यस्थायी स्वभाव बंधन और अशुद्धता से रहित, ज्ञानानन्दी अभेद है; उस भूतार्थ स्वभाव के लक्ष से शुद्धात्मा की अनुभूति होती है। ऐसा स्वभाव समझकर उसका अनुभव करना ही धर्म की रीति है और वही मुक्ति का मार्ग है।

शिष्य ने ऐसा प्रश्न किया कि—प्रभो! पर्याय में यह विकारी भाव होने पर भी उनसे रहित शुद्धात्मा का अनुभव कैसे हो सकता है? श्री आचार्यदेव उससे कहते हैं कि भाई! वे विकारी भाव तेरे स्वभाव गृह की वस्तु नहीं है; वे तेरे आत्मा में घर बसाकर स्थायीरूप से रहनेवाले नहीं हैं; वे तो मात्र क्षणिक पर्याय में ही हैं; इसलिये पर्यायदृष्टि छोड़कर द्रव्यसन्मुख देखने से उन विकारी भावों से रहित शुद्ध आत्मस्वभाव की अनुभूति हो सकती है। पर्यायदृष्टि में तुझे आत्मा बँधा हुआ और अशुद्ध दिखाई देता है; परन्तु आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव बंधनरूप या अशुद्ध नहीं हो गया है; स्वभाव से तो वह शुद्ध ही है; इसलिये स्वभावदृष्टि से देखने पर बंधन और अशुद्धता से रहित शुद्धात्मा का अनुभव होता है।

आत्मा की पर्याय में बंधन और अशुद्धता है—इत्यादि व्यवहार के प्रकारों को जाना, और निश्चय से आत्मा बंधन तथा अशुद्धता से रहित है—ऐसा भी जान लिया; —इसप्रकार दोनों पक्षों को लक्ष में लेकर उनमें से अबद्धस्पृष्ट स्वभाव की रुचि करके शिष्य ने पूछा कि प्रभो! ऐसे आत्मा का अनुभव कैसे होता है? तब श्रीगुरु ने कहा कि अबद्धस्पृष्टना आदि भाव अभूतार्थ है और अबद्धस्पृष्ट आत्मस्वभाव है, वह भूतार्थ है; वे बद्धस्पृष्टपना इत्यादि भाव अभूतार्थ होने से शुद्ध आत्मा का अनुभव हो सकता है। आत्मा के भूतार्थ स्वभाव के निकट जाकर अनुभव करने से शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है और ऐसा अनुभव करना, वह शुद्धनय है; वह अपूर्व कर्तव्य है। पन्द्रहवीं गाथा में तो आचार्यदेव कहते हैं कि जो पुरुष अबद्धस्पृष्ट-अनन्य-अविशेष-नियत और असंयुक्त आत्मा को देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति, वह सर्व जिनशासन की अनुभूति है। इसलिये शुद्धनय द्वारा ऐसे शुद्धात्मा की पहिचानकर उसका अनुभव करना, वह समस्त जैनशासन का सार है, वही जैनशासन का रहस्य है। जिसने ऐसे शुद्धात्मा का अनुभवन किया, उसने सम्पूर्ण जैनशासन को जान लिया और जो ऐसे शुद्ध आत्मा को न जाने, उसने जैनशासन को भी नहीं जाना। *[श्री समयसार, गाथा १४ के प्रवचन से]*

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है?

लेखांक १३] [अंक १०५ से आगे

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है, उस पर पूज्य गुरुदेव के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

❀ श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में जिज्ञासु शिष्य पूछता है कि प्रभो! ''यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है?''

❀ उसके उत्तर में श्री आचार्यदेव कहते हैं कि "आत्मा अनंत धर्मोंवाला एक द्रव्य है और अनंतनयात्मक श्रुतज्ञानप्रमाणपूर्वक स्वानुभव से वह ज्ञात होता है।"

❀ ऐसे आत्मद्रव्य का ४७ नयों से वर्णन किया है, उसमें से २१ नयों के प्रवचन अभी तक आ चुके हैं; वे संक्षेप में निम्नानुसार हैं—

(१-२) द्रव्यनय से आत्मा चिन्मात्र है; पर्यायनय से आत्मा दर्शनज्ञानादिमात्र है।

(३ से ९) अस्तित्वनय से आत्मा स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है; नास्तित्वनय से आत्मा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्वाला है; अस्तित्व-नास्तित्वनय से आत्मा अस्तित्व-नास्तित्ववाला है; इसीप्रकार शेष चार भंग भी समझ लेना।

(१०-११) विकल्पनय से आत्मा सविकल्प (भेदवाला) है; अविकल्पनय से आत्मा अविकल्प (अभेद) है।

(१२ से १५) नामनय से आत्मा शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है अर्थात् वह शब्द से वाच्य होता है; स्थापनानय से आत्मा सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है अर्थात् पुद्गल में स्थापना द्वारा उसे पहिचाना जा सकता है; द्रव्यनय से आत्मा भूत और भविष्य की पर्यायरूप से प्रतिभासित होता है; अर्थात् भविष्य की पर्यायें भी द्रव्य में निश्चित हैं, भविष्य में जिस द्रव्य में जो पर्याय होना निश्चित है, उस पर्यायरूप से द्रव्य वर्तमान में प्रतिभासित होता है; ऐसे द्रव्यसवभाव का निर्णय करने से द्रव्य-सन्मुख दृष्टि से वीतरागी ज्ञायकपने का अपूर्व सम्यक्-पुरुषार्थ होता है—यह बात विस्तारपूर्वक एवं विशिष्ट शैली में पूज्य स्वामीजी ने इस द्रव्यनय के प्रवचन में समझाई है; भावनय से आत्मा तत्काल की वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित होता है, प्रतिभासित होता है।

(१६-१७) सामान्यनय से आत्मा अपनी सर्व पर्यायों में व्यापक है; विशेषनय से आत्मा अव्यापक है, क्योंकि उसकी एक पर्याय सर्व पर्यायों में व्याप्त नहीं होती।

(१८-१९) नित्यनय से आत्मा नित्यस्थायी है। अनित्यनय से आत्मा अनित्य है।

(२०-२१) सर्वगतनय से आत्मा सर्ववर्ती है; आत्मा अपने ज्ञानसामर्थ्य से समस्त पदार्थों को जान लेता है उस अपेक्षा से उसे सर्ववर्ती कहा जाता है; असर्वगतनय से आत्मा आत्मवर्ती है; समस्त पदार्थों को जानने पर भी आत्मा पर में तन्मय नहीं हो जाता, परन्तु अपने में ही तन्मय रहता है—इसलिये वह आत्मवर्ती है।

उपरोक्तानुसार इक्कीस नयों से अभी तक आत्मा का वर्णन आ गया है; तत्पश्चात् यहाँ दिया

जा रहा है। यहाँ इस बात का खास ध्यान रखना कि शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक यह सर्व नय हैं; शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से रहितनय तो मिथ्या हैं। इसलिये ४७ नयों का वर्णन करके अन्त में आचार्यदेव कहेंगे कि "इसप्रकार स्यात्कारश्री के वास के वश प्रवर्तमान नयसमूहों द्वारा देखे तो भी, और प्रमाण द्वारा देखे तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को अंतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है।" आत्मा के जितने धर्म हैं, वे सब शुद्ध चैतन्यद्रव्य के आश्रय से ही अभेदरूप से विद्यमान हैं; उस शुद्ध चैतन्यद्रव्य पर दृष्टि जाये—यही सर्व नयों का परमार्थ तात्पर्य है।

(२२) शून्यनय से आत्मा का वर्णन !

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, अकेला (अमिलित) भासित होता है। जिसप्रकार खाली घर में कोई नहीं होता, उसीप्रकार शून्यनय से देखने पर आत्मा पर से बिलकुल खाली, अकेला है; वह किसी के साथ मिला हुआ नहीं है।

आत्मा में पर का बिलकुल अभाव है, इसलिये पर से आत्मा बिलकुल खाली एकाकी है; जिसप्रकार कोई घर खाली पड़ा होता है; उसीप्रकार आत्मा का चैतन्य-गृह पर से बिलकुल खाली है; चैतन्य-गृह में किसी पर का प्रवेश नहीं है। वास्तव में त्रिकाली चैतन्य-गृह में विकल्प का भी प्रवेश नहीं है। शून्यनय से देखने पर आत्मा अकेला दिखाई देता है; अकेला अर्थात् दूसरे के संयोग से रहित; अपने में अपने अनंत-धर्म तो एकरूप हैं परन्तु पर से बिलकुल खाली होने से अकेला है। आत्मा निजस्वभाव से तो परिपूर्ण भरा है, परन्तु पर से खाली है। ऐसे आत्मा को जो जाने, उसे पर में से सुख लेने की मिथ्याबुद्धि न रहे; इसलिये पराश्रय बुद्धि छूटकर अकेले आत्मा के आश्रय से स्वभाव का सुख प्रगट हो !

अहो ! मेरा आत्मा किन्हीं परज्ञेयों के साथ मिला हुआ नहीं है, अकेला खाली ज्ञानपिण्ड ही है—इसप्रकार जो जीव अपने आत्मा की प्रतीति में ले, वह जीव फिर किसका ममत्व करेगा ? अकेले ज्ञानपिण्ड का ही आश्रय करके पर से बिलकुल उदासीन-वीतराग हो जायेगा।

बाह्यदृष्टि जीवों को ऐसा लगता है कि हमें बहुत उपाधि लगी है। किन्तु अरे भाई ! बाह्य की कोई उपाधि तेरे आत्मा में नहीं है; क्योंकि बाह्य वस्तुओं का तो तुझमें सदैव अभाव ही है। परपदार्थ तुझसे लिपटे नहीं हैं परन्तु तू अपने स्वभाव में स्थित न रहकर जो पराश्रयभाव करता है, उस पराश्रयभाव की ही तुझे उपाधि है। एकाकी ज्ञानस्वभाव की प्रतीति करके उसका अवलम्बन ले तो वह उपाधिभाव छूट जाये।

जिसप्रकार—चारों ओर मजबूत सींकचोंवाले किसी मकान में कोई मनुष्य अकेला रहता हो, और बाहर सिंहादि घूमते हों, तो वहाँ वह मनुष्य मकान में बैठा-बैठा सिंह को देखता है; परन्तु सिंह का घर में प्रवेश नहीं होता, इसलिये वह सिंह उसे क्या कर सकता है? उसीप्रकार इस असंख्यप्रदेशी चैतन्यगृह में ज्ञानस्वभावी आत्मा अकेला विराजमान है, वह पर से बिलकुल खाली है; आत्मा अपने ज्ञान में रहकर सबको जानता है, परन्तु पर का उसमें प्रवेश ही नहीं है। इसलिये किसी पर से उसे लाभ-हानि नहीं हो सकते। आत्मा के ऐसे एकाकी स्वभाव को पहिचाने तो सम्यग्ज्ञान हो। मैं पर से बिलकुल खाली अकेला चैतन्यज्योति हूँ, शरीर-मन-वाणी इत्यादि का मुझ में प्रवेश नहीं है और "अकेला ज्ञान" कहने से उसमें विकार भी नहीं है; अकेला ज्ञान ही है—इसप्रकार पर से शून्य एकाकी ज्ञानस्वभावरूप से आत्मा को देखनेवाली ज्ञान-किरण को "शून्यनय" कहा जाता है।

आत्मा ज्ञानप्रकाश से परिपूर्ण है, उसके बदले अज्ञानीजीव आत्मा को पर संयोग से और विकार से परिपूर्ण मानते हैं। भगवान आत्मा पर से बिलकुल खाली और चैतन्यप्रकाश से परिपूर्ण है; उसके बदले पर संयोग से जो आत्मा की महत्ता मानता है, उसने आत्मा की महिमा को नहीं जाना है; कूड़े-कचरे से घर भरे, वह भरा नहीं कहलाता। इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्तः—एक सेठ के पास दो आदमी नौकरी करने के लिये आये। सेठ न दोनों की परीक्षा करने के लिये उन्हें चार-चार पैसे दिये और कहा कि—"इन चार पैसों का माल लाकर कोठार भर दो।" उन दो में से एक आदमी मूर्ख था; उसने विचार किया कि कौन सा माल कोठार में भरना चाहिए? बहुत विचारने पर भी कोई माल नहीं मिला, इसलिये वे चार पैसे मजदूर को दिये और एक कूड़ा-घर का कूड़ा उठवाकर कोठर भर दिया! दूसरे आदमी ने विचार किया कि सेठ चार पैसे में कोठार भरने को कहते हैं, इसमें अवश्य कोई गम्भीर आशय है। खूब सोच-विचारकर उसने एक दियासलाई की पेटी और एक मोमबत्ती ली; और सेठ को लेकर अँधेरे कोठार में जाकर कहा कि देखो सेठ! यह कोठार प्रकाश से भरे देता हूँ।—ऐसा कहकर दियासलाई से मोमबत्ती जलाई कि सारा कोठार प्रकाश से भर गया—कोठार का कोई भाग प्रकाश से खाली नहीं है। ऐसे देखा जाये तो कोठार में अनाज या अन्य कोई वस्तु नहीं है, कोठार खाली है, तथापि प्रकाश से तो वह भरा हुआ है। उसीप्रकार आत्मा पर से बिल्कुल खाली होने पर भी चैतन्यप्रकाश से भरपूर है। जिसे ऐसे आत्मा का भान नहीं है, वह अज्ञानी जीव, दृष्टान्त के मूर्ख मनुष्य की भाँति आत्मा को संयोग एवं विकार से

भरपूर मानता है; और ज्ञानी तो अपने आत्मा को चैतन्य-प्रकाश से परिपूर्ण तथा पर से खाली जानता है। पर्याय में विकार है, उसका भी वह प्रकाशक है। विकार, आत्मा की क्षणिक पर्याय में ही है और चैतन्यप्रकाश से आत्मा त्रिकाल भरपूर है। सम्यग्ज्ञान आत्मा को अपने द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से परिपूर्ण बतलाता है और पर से उसका खालीपना बतलाता है। परवस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता—ऐसी अज्ञानी की मान्यता है, वह मिथ्या है। ''परवस्तु के बिना मेरा नहीं चल सकता''—ऐसा जिसने माना, उसने आत्मा को पर से खाली नहीं माना, परन्तु भरपूर माना है; और पर से भरपूर माना, उसने आत्मा को अपने स्वभाव से खाली माना है अर्थात् आत्मा को वास्तव में माना ही नहीं। जीव में परवस्तु का तो अभाव ही है, इसलिये त्रिकाल उसका परवस्तु के बिना ही चल रहा है। मेरा परवस्तु के बिना नहीं चल सकता—ऐसा अज्ञानी भले माने, परन्तु उस विपरीत मान्यता के समय भी उसका परवस्तुओं के अभाव से ही चल रहा है।—यह बात प्रत्येक जीव को समझने योग्य है।

देखो, यह कल्याण की रीति! जो जीव अपने कल्याण के लिये लालायित होकर आया है, उसे आचार्यदेव कल्याण का उपाय बतलाते हैं। जिसप्रकार तीर्थंकर भगवान के जन्म-कल्याणकादि प्रसंगों पर सौधर्म स्वर्ग में सुघोष घंट बजता है; उसीप्रकार हे भाई! तेरे कल्याण का प्रसंग आया है; इसलिये सच्चा स्वरूप समझकर अपने आत्मा की स्वतंत्रता का सुघोष घंट बजा! ''अरेरे! संयोग प्रतिकूल हैं, कर्म मुझे हैरान करते हैं, कर्म का बहुत जोर है''—इत्यादि प्रकार की विपरीत घोषणा एवं विपरीत मान्यता छोड़ और ''अहो! मेरा आत्मा कर्मादि परद्रव्यों से तो त्रिकाल बिलकुल खाली ही है, मैं अपने चैतन्यस्वभाव से त्रिकाल परिपूर्ण हूँ; कोई भी परद्रव्य मुझ में प्रवेश करके मेरा अहित करने में समर्थ नहीं है''—ऐसी सच्ची समझ की घोषणा जागृत कर! अहो, मैं अपने स्वभाव से परिपूर्ण-भरा हूँ और पर से बिलकुल शून्य हूँ, इसलिये अपने कल्याण के लिये किसी पर का आश्रय मुझे नहीं है—ऐसी अपूर्व दृष्टि होने से ही जीव को अपने स्वभाव के आश्रय से, स्वालंबन के बल से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है और उसका कल्याण होता है। ऐसा नियम है।

देखो, आत्मा कैसा है, वह यहाँ बतलाते हैं। शरीर और कर्मादि समस्त परवस्तुओं से तो आत्मा खाली है, और अपने अनंत गुण-पर्यायों से परिपूर्ण है। अपने में गति आदि पर्याय की तथा ज्ञानादि की जो योग्यता है, वह तो अपना धर्म है। संसार पर्याय के समय उससे आत्मा खाली नहीं है

परन्तु उस समय भी कर्म से तो आत्मा खाली ही है। श्रेणिक राजा को जो नरक पर्याय हुई, उससे उनका आत्मा खाली नहीं है, क्योंकि वह भी अपना अंश है और अपनी योग्यता से ही वह पर्याय हुई है; कर्म के कारण उन्हें नरक-पर्याय हुई है—ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रेणिक का आत्मा भी कर्म से तो खाली है।—ऐसा समझने से कर्म की ओर देखना नहीं रहता परन्तु आत्मा की ओर दृष्टि जाती है।

आत्मा में कर्म हैं ही नहीं, इसलिये "मैंने कर्मबन्ध किया और मैं कर्मों को काटता हूँ"—यह बात ही नहीं रहती; और कर्म की ओर के झुकाव से अपने में जो क्षणिक विकार की योग्यता है, वह भी स्व का आश्रय करने से उत्पन्न नहीं होती। यदि आत्मा में जड़कर्म प्रविष्ट हो गये हों तो जड़कर्मों के साथ आत्मा एकमेक हो जाये; इसलिये जिसप्रकार आत्मा ज्ञान से परिपूर्ण है, उसीप्रकार कर्मों से भी परिपूर्ण हो जाये। परन्तु कर्मों से तो आत्मा त्रिकाल खाली ही है। मैं जगत के समस्त पदार्थों से खाली एकाकी ज्ञानमूर्ति हूँ—ऐसा समझे तो आत्मा कितना हलका हो जाये! जिसप्रकार किसी का हृदय भर आया हो और वह किसी के पास उसे खाली करके हलका करता है; उसीप्रकार अज्ञानी जीव अपने को अनादि से कर्मवाला और संयोगवाला मानकर मोह से भारी हो गया है; उसे ज्ञानी समझाते हैं कि अरे आत्मा! तू शांत हो, धीरज रख; तेरे एकाकी आत्मा में किसी भी अन्य द्रव्य का प्रवेश होता ही नहीं; एक बार तो समस्त पदार्थों का लक्ष छोड़कर अकेले आत्मद्रव्य को लक्ष में ले। यदि अपने आत्मा को इसप्रकार पर से बिलकुल खाली समझे तो जीव एकदम हलका हो जाये अर्थात् उसके मोह का नाश हो जाये। मैं पर का करता हूँ और पर मेरा करता है—इसप्रकार व्यर्थ ही पर का बोझ अपने सिर पर रखकर अज्ञानी जीव भटकता है; यदि पर के अभावरूप निजस्वभाव को जाने तो अपने आत्मा का किसी भी पर के बोझरहित मुक्त अनुभव करे। इसलिये श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू कर्म से बिलकुल खाली है—ऐसा समझकर एकबार हलका हो जा! जहाँ पर से खालीपने को समझा, वहाँ परसन्मुख देखना नहीं रहा किन्तु स्वोन्मुख होना रहा। पर से मैं खाली हूँ—ऐसा जो समझा, उसकी पर्यायबुद्धि छूटकर निर्मल स्वभाव पर दृष्टि गये बिना नहीं रह सकती। जिसे निमित्त के साथ एकत्वबुद्धि हो, उसे विकार के साथ भी एकताबुद्धि होती ही है, और जहाँ निमित्त के साथ की एकत्वबुद्धि छूटी, वहाँ विकार के साथ की एकताबुद्धि भी छूटे बिना नहीं रहती। जहाँ निमित्त से भिन्नत्व जानकर अपने स्वभाव में एकत्वबुद्धि हुई, वहाँ निमित्त और विकार—दोनों में से एकत्वबुद्धि छूट जाती है।

जड़कर्म की प्रकृति का बंध आत्मा करता है और उस प्रकृति का फल आत्मा में आता

है—यह सब तो निमित्तनैमित्तिक संबंध के कथन हैं। वास्तव में जड़कर्म का बंध, उदय, सत्ता, उपशम, क्षयोपशम या क्षय—इत्यादि जितनी अवस्थाएँ हैं, वे सब पुद्गल में ही हैं, आत्मा में नहीं हैं, आत्मा उनसे शून्य है। जो ऐसा भिन्नत्व का भान करे, वही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को यथार्थ जान सकता है। जिसे अभी जीव और कर्म की बिलकुल भिन्नता का भान न हो, उसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान होता ही नहीं। पर से आत्मा शून्य है—ऐसा निर्णय करनेवाले की दृष्टि पर के ऊपर से हटकर स्वोन्मुख हो जाती है; इसलिये जिसे अपने स्वभाव की दृष्टि हुई है, उसी के सच्चा ''शून्यनय'' होता है।

''ब्रह्म सत् और जगत मिथ्या''—ऐसा अज्ञानी मानते हैं, वह तो मिथ्या बात है; उसे कहीं ''शून्यनय'' नहीं कहा जाता। जगत में आत्मा के अतिरिक्त परवस्तुएँ भी निज-निजसवरूप से सत् हैं, परन्तु आत्मा में परवस्तुएँ नहीं हैं—ऐसा जो जाने, उसी के ''शून्यनय'' होता है।

''नास्तित्वनय'' ऐसा बतलाता है कि आत्मा पररूप नहीं है, और ''शून्यनय'' ऐसा बतलाता है कि आत्मा में पर नहीं है; एक तो आत्मा का पर में नास्तित्व बतलाता है, दूसरा, पर का आत्मा नास्तित्व बतलाता है।

प्रश्न — यदि आत्मा कर्मों से खाली हो तो, एक का शरीर निरोगी और दूसरे का रोगी, एक निर्धन और दूसरा धनवान—ऐसा अन्तर क्यों दिखाई देता है ?

उत्तर — अरे भाई! उन निरोगी या रोगी शरीर तथा पैसादि से भी आत्मा खाली ही है, वे कोई वस्तुएँ आत्मा में आईं ही नहीं। कर्म भी तुझमें नहीं हैं और शरीरादि पर पदार्थ भी तुझमें नहीं हैं। तेरे आत्मा के चैतन्य प्रदेश में प्रविष्ट हो सके, वही वस्तु तेरी कही जायेगी। शरीर या कर्मादि कोई वस्तु तेरे आत्मप्रदेश में प्रविष्ट नहीं हो सकती।

प्रश्न — यदि आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म न हो तो ज्ञान की अवस्था हीन क्यों हो ?

उत्तर — देखो भाई! जब जीव अपने कारण ज्ञान की हीन अवस्थारूप परिणमित होता है, तब जगत में निमित्तरूप से ज्ञानावरणीय कर्म है, परन्तु आत्मा में तो उसका अभाव ही है। अपना नैमित्तिकभाव अपने में है, परन्तु निमित्त का तो अपने में अभाव ही है। ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान की हीन अवस्था नहीं हुई है, परन्तु ज्ञान की अपनी योग्यता से ही उसका हीन परिणाम हुआ है। इसलिये ऐसा समझकर, ''कर्म का उदय जीव को हैरान करता है''—ऐसी पुकार को बन्द करके अपना हृदय हलका कर, और आत्मा की सँभाल कर। कर्म का उदय, उपशम, क्षयोपशम,

आदि सबसे आत्मा खाली है; इसलिये उनकी दृष्टि छोड़कर अपने ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा पर दृष्टि कर, वही कल्याण का उपाय है।

मेरा आत्मा पर से बिलकुल खाली एकाकी है—यह बात समझे तो निमित्तबुद्धि दूर हो जाये, और निमित्तबुद्धि दूर होने से अपनी पर्याय में अंशबुद्धि भी दूर होकर त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि हो और अनुक्रम से वीतरागी चारित्र प्रगट होकर मोक्षदशा हुए बिना न रहे।

श्रवण के शब्दों से भी आत्मा खाली है, परन्तु उनके ज्ञान से आत्मा खाली नहीं है; इसलिये शब्दों के कारण मुझे ज्ञान होता है—यह बात नहीं रही, किन्तु ज्ञान स्वभाव का ही अवलम्बन रहा।

असातावेदनीय के कारण सर्प ने काटा; तो वहाँ असातावेदनीय कर्म कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता; सर्प भी आत्मा में नहीं है, सर्प का विष भी आत्मा में नहीं है; और जिस शरीर को सर्प ने काटा, वह शरीर भी आत्मा में नहीं है; आत्मा उन सबसे खाली एकाकी चैतन्यबिम्ब है। आत्मा का ऐसा स्वरूप समझे तो कहीं, पर से लाभ-हानि की बुद्धि न रहे, इसलिये पराश्रय छूटकर स्वाश्रित वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो!

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा में तीर्थंकर नामकर्म का तथा समवशरणादि का भी अभाव है। तीर्थंकर भगवान का आत्मा अपने केवलज्ञानादि से परिपूर्ण है परन्तु समवशरणादि से तो खाली है। जो जीव ऐसा न समझे उसे, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है, उस प्रकार का शुभराग भी नहीं होता; क्योंकि मिथ्यादृष्टि को वैसा शुभभाव होता ही नहीं। सम्यग्दृष्टि को शुभराग से तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है परन्तु वह सम्यग्दृष्टि तो तीर्थंकर नामकर्म का अपने में अभाव मानता है; इसलिये उससे परम्परा अपना कल्याण होगा—ऐसा वह वास्तव में नहीं मानता। कहीं निमित्त से कथन किया हो, वहाँ यथार्थ स्थिति इसप्रकार समझता है कि वास्तव में इस राग द्वारा या तीर्थंकर नामकर्म द्वारा मेरा कल्याण नहीं है, परन्तु जब स्वभाव के आश्रय से उस राग को दूर करूँगा, तब मेरा पूर्ण कल्याण होगा। इसीप्रकार कहीं निमित्त से कर्म को दुःखदायक कहा हो तो वहाँ भी धर्मी जीव ऐसा समझता है कि वास्तव में जड़कर्म जीव को दुःख नहीं देते, परन्तु कर्म की ओर की वृत्तिवाला विकारी भाव ही दुःखरूप है। कर्म के ओर की बुद्धि छुड़ाकर आत्मा के ओर की बुद्धि कराने के लिये निमित्त से कर्म को दुःख का बीज कहा है; वास्तव में आत्मा में कर्म का अभाव है। आत्मा में एक ऐसा कर्म है कि वह समस्त अन्य पदार्थों से खाली है—ऐसे एकाकी आत्मा को जाननेवाला "शून्यनय" है, वह श्रुतज्ञानप्रमाण का एक अंश है। —शून्यनय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

सच्चा उद्यम

समयसार में आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! तू जगत का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर अंतर में चैतन्यवस्तु के अनुभवन का छह महीने तक प्रयत्न कर, तो अपने अंतर में तुझे अवश्य ही उसकी प्राप्ति होगी। दूसरी रुचि छोड़कर चैतन्य की रुचिपूर्वक यदि अंतर में अभ्यास करे तो अल्पकाल में उसका अनुभव किए बिना न रहे। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अंतर में तत्त्वनिर्णय और अनुभव का अपूर्व उद्यम करना चाहिए।

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी